



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से ज्ञातादृष्टापना (भेदज्ञान)
सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के
चयन किये गये वचनामृत

प्रश्न :- राग ज्ञेय है, कि दुःखरूप है ?

उत्तर :- इधर (स्वभाव में) आया तो राग ज्ञान में ज्ञेयरूप जानने में आता है, और वेदन में दुःखरूप लगता है। (एक ही समय में ज्ञान के 'जाननेरूप' व 'वेदनेरूप' दो प्रकार के धर्म प्रगट हैं। 'जाननेरूप धर्म' राग को मात्र ज्ञेयरूप जानकर ज्ञाताभाव से वर्तता है। 'वेदनेरूप धर्म' वेदन करता है, तब ज्ञाताभाव होनेपर भी राग की आकुलता का वेदन दुःखरूप लगता है। इस प्रकार ज्ञान के दोनों धर्म एक साथ वर्तते हैं, यही अनेकांत है।) ३३२.

प्रश्न :- उपयोग स्व-सन्मुख होता है तब जो (परसे) भिन्नता भासती है, वैसी (भिन्नता) विकल्प के काल में भासती है क्या ?

उत्तर :- विकल्प के काल में भी प्रत्यक्ष भिन्नता का अनुभव है। मगर उपयोग को क्यों मुख्य करते हो ? 'मैं तो ध्रुवतत्त्व हूँ' इसकी मुख्यता करनी चाहिए। श्रद्धा-ज्ञान विकल्प के काल में (धारणा की माफ़िक) खाली पड़े हुए नहीं है, लेकिन परिणमनरूप है। ४५९.

(राग को) ज्ञान का ज्ञेय.. ज्ञान का ज्ञेय कहते हैं, और लक्ष्य राग की ओर है तो वह, सच्चा ज्ञान का ज्ञेय है ही नहीं। (यथार्थता में तो) ज्ञान का ज्ञेय तो अंदर में सहजरूप हो जाता है।

लक्ष्य बाहर पड़ा हो और 'ज्ञान का ज्ञेय' ऐसा बोले तो मुझे तो खटकता है। वैसे ही 'योग्यता', 'क्रमबद्ध' आदि सभी में लक्ष्य बाहर पड़ा हो और वैसा कहे तो मुझे खटकता है। ५७९.

'सारा जगत् ज्ञान का ज्ञेय है', 'अनुकूलता-प्रतिकूलता कुछ नहीं है'—इस अभिप्राय में दृष्टि अभेद होनी चाहिए। दृष्टि में मचक नहीं आनी चाहिए। अभिप्राय में परसे लाभ-नुकसान की मान्यता क्यों? अभिप्राय में इच्छा व दीनता नहीं होनी चाहिए। (अभिप्राय और दृष्टि साथ वर्तते हैं और तदनुसार ही परिणमन का संचरण/विकास होता है, ऐसा सिद्धांत है।) ५९३.

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४८: अंक-२९५, वर्ष-२४, जुलाई-२०२२

आषाढ कृष्ण १४, रविवार, दि. १७-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-९१, प्रवचन-३७

भगवान आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न प्रभु, इस शरीर, कर्म और संयोगी विकारी भाव से भिन्न है। अभी है, है उसे ऐसा देखने से शुद्ध दिखता है। आहा...हा...! यह तो राग, विकल्प और निमित्त का अस्तित्व अनादि से देखता है। यह... यह... यह... अंशबुद्धि में बुद्धि विस्तृत करे तो इसकी बुद्धि राग और संयोग में जाती है, उनका स्वीकार है। यह भगवान आत्मा.... समझ में आया? एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्णानन्द प्रभु है। उसे शुद्ध है - ऐसा दिखता है।

‘जैसे मिट्टी सहित पानी को जब पानी के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाए तो पानी शुद्ध ही दिखता है।’ पानी मलिन है? मलिन तत्त्व तो मिट्टी के कारण मिट्टी का भाग है। समझ में आया? पानी का भाग नहीं है।

मुमुक्षु : मिट्टी मैली है?

उत्तर : मिट्टी ही मैली है, पानी कहाँ मैला है? यह मैला परिणाम है, वह मिट्टी का है; पानी का नहीं। इसी प्रकार ‘भेदविज्ञान की शक्ति से अपनी आत्मा को कर्मों से भिन्न और कर्मोदयजनित भावों से भिन्न...’ लो, यह आस्रव आया। शुभ और अशुभभाव होने पर भी उनसे दृष्टि हटाकर

अपने स्वभाव की ओर देखे तो आत्मा को कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए भाव वे भिन्न हैं; भिन्न ही हैं। समझ में आया?

इन रागादि को देखने से उसे एक दिखते हैं। यह तो पर्यायबुद्धि, अंशबुद्धि, व्यवहारबुद्धि, मिथ्याबुद्धि हुई। यह विकल्प और यह कर्म, यह शरीर, यह वर्तमानमात्र की बुद्धि हुई। समझ में आया? भगवान आत्मा इस राग, निमित्त, कर्मजन्य उपाधिभाव है तो उसका अपराध, वह अपराध त्रिकालस्वभाव से विरुद्ध है। विरुद्ध है तो वास्तव में उसका स्वभाव नहीं है, हेय है। अतः जब उसे हेय कहा तो उपादेय क्या रहा? समझ में आया? शुद्ध द्रव्यस्वभाव ज्ञायकभाव उपादेय रहा। न्याय से, साधारण स्थिति से देखे तो यह रहा। कर्म, शरीर यह तो ज्ञेय परद्रव्य में गये; विकार दुःखरूप है। है इसकी अवस्था परन्तु वह दुःखरूप है; इस कारण हेय है। जब वह हेय अर्थात् लक्ष्य करने योग्य नहीं है, आश्रय करने योग्य नहीं है तो रहा आत्मा। समझ में आया?

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का पिण्ड है। वह (राग) हेय हुआ, उसके दुःख की अवस्था होने पर भी वह आस्रवतत्त्व में जाती है।

आहा...हा...! उससे भिन्न देखने से अर्थात् वस्तु का स्वभाव देखने से, पानी का स्वभाव देखने से पानी शुद्ध है। है? आहा...हा...! बड़ी बात करे परन्तु मूल (बात का) पता न ले.... समझ में आया?

कहते हैं, पानी स्वभाव की अपेक्षा से तो निर्मल है। 'भेदविज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा को कर्मों से भिन्न और कर्मोदयजनित भावों से भिन्न सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्य का सागर निरंजन परमात्मादेव ही देखना चाहिए।' स्वयं को

देखना चाहिए, तो अपना स्वरूप तो ज्ञान-दर्शन-आनन्द-वीर्य का पिण्ड है। समझ में आया? देखता तो है, देखने की नजर तो है, परन्तु देखने की नजर राग, विकार को देखती है। एक क्षणिक विकृत अवस्था जो स्वभाव से विपरीत है, उसे देखती है। उसी दृष्टि में उससे भिन्न मेरी चीज है - ऐसा देखने से भगवान शुद्ध ही दिखता है। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को ऐसा ही श्रद्धान होता है। लो! 'सम्यग्दृष्टि को ऐसा ही श्रद्धान होता है।' समझ में आया? है? क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : सुनते-सुनते अधिक समझ में आता है?

उत्तर : इसलिए सुनने से, ऐसा? इसलिए वजन सुनने पर देता है, भाई! हमें पण्डितजी को पूछना पड़े न, क्या कहते हैं यह? आहा...हा...!

भगवान कहाँ अनजाना है? वह कहाँ ज्ञानस्वभावरहित है? कि उसे दूसरे के द्वारा जाना जाए। आहा...हा...! चैतन्य का पिण्ड प्रभु, चित्पिण्ड। चित्पिण्ड आया है न? उसे दर्शन के अर्थ में लिया है। पिण्ड है, इसलिए पण्डित जयचन्द्रजी

ने पिण्ड अर्थात् दर्शन के अर्थ में लिया है। सामान्य है न? और प्रकाश के अर्थ में ज्ञान लिया है। चार बोल लिये हैं। सुप्रभात.... सुप्रभात। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख - ऐसा लिया है। एक कलश में चित्पिण्ड लिया है। समझ में आया?

भगवान आत्मा.... अपना स्वरूप सम्यग्दृष्टि शुद्ध देखता है। अशुद्ध देखे वह अपना स्वरूप है? वह अपने स्वरूप में नहीं है - ऐसा ज्ञान करता है। उसका अर्थ आ गया है, भाई! व्यवहार जाना

हुआ प्रयोजनवान है। शास्त्र में इस शैली में बात की है। अपना स्वभाव शुद्ध है, पवित्र है, राग से भिन्न है - ऐसा स्वरूप है। ऐसा देखो, बाकी राग रह गया, परन्तु वह राग भिन्न रह गया। अपने स्वरूप में नहीं आया, परज्ञेय में गया तो व्यवहार जाना हुआ (प्रयोजनवान है)। निश्चय हुआ तो राग है, वह जाना हुआ प्रयोजनवान है, बस! इतनी बात है। है, इतना ज्ञान करने योग्य है। समझ में आया?

यह तो सम्यग्दर्शन से लेकर पहले से बात है। पहले से न हो तो राग से भिन्न स्वरूप है, विकल्प से भिन्न स्वरूप है - ऐसे स्वरूप का भान हुआ तो विकल्प अपने स्वरूप में नहीं है - ऐसा (भान) हुआ। परन्तु है तो अवश्य। समझ में आया? स्वरूप शुद्ध परमात्मा निजानन्द प्रभु की दृष्टि में वस्तु शुद्ध है, पर्याय में भी वह विकार नहीं आता, एक नहीं होता। पर्याय में भी, द्रव्य में भी। द्रव्य में तो राग का एकत्व नहीं होता, क्योंकि उसमें नहीं है परन्तु दृष्टि में भी राग का एकत्व नहीं होता। भाई! क्योंकि दृष्टि शुद्ध निर्मल पर्याय संवर निर्जरारूप है, उस संवर-निर्जरारूप पर्याय में आस्रव पर्याय कभी नहीं होती।



आहा...हा...! समझ में आया?

‘इस श्रद्धान और ज्ञान के बल से सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा में स्थिर होने का पुरुषार्थ करता है।’ लो! इस श्रद्धा के बल से, मैं शुद्ध हूँ-पूर्ण हूँ - ऐसा प्रतीति में ज्ञान में - भास में आया है तो पुरुषार्थ करके स्थिर होने का प्रयत्न करता है। बस! यह स्थिर हुआ, वह मोक्ष का मार्ग और संवर-निर्जरा है, बाकी सब बातें हैं। इतने उपवास किये इसलिए निर्जरा हो गयी... वल्लभदासभाई! वर्षीतप क्रिया (इसलिए) निर्जरा हो गयी... उसका इतना काल गया, सुन न अब! निर्जरा कहाँ से आयी? ए... नवरंगभाई! भगवान आत्मा अपने आस्रव और कर्म से भिन्न, अपने स्वरूप से जैसा तत्त्व है, वैसा देखने से रागादि रहे, वे पृथक् - भिन्न रह गये। अतः ज्ञानी को द्रव्य में बन्ध नहीं, द्रव्य बन्धस्वरूप नहीं; अबन्धस्वरूप की दृष्टि हुई तो दृष्टि में भी बन्ध नहीं है। दृष्टिवान को बन्ध है ही नहीं। दृष्टिवान को बन्ध है ही नहीं - ऐसा कहते हैं। बन्ध, बन्धभाग में गया; अबन्धद्रव्य के अबन्ध परिणाम में वह बन्धभाव नहीं आया, नहीं आता। समझ में आया?

‘जब-जब स्वानुभव अथवा आत्मा में स्थिरता प्राप्त करता है, तब-तब पूर्व में बाँधे हुए कर्मों की बहुत निर्जरा होती है।’ दृष्टि का अनुभव, भान होने पर भी स्वरूप में निर्विकल्पपने अनुभव होवे तो बहुत निर्जरा होती है। समझ में आया? यह लोग कहते हैं न, भाई! शास्त्र का स्वाध्याय करने से निर्जरा होती है। अरे...! भगवान! सुन तो सही! परद्रव्य के लक्ष्य में निर्जरा कहाँ से आयी? आहा...हा...! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी कहा, आया न? पर परिणति.... पण्डितजी! हमारी विशुद्धि होओ, यह टीका करने से विशुद्धि होओ ऐसा पाठ है, लो! उसका अर्थ समझना चाहिए न! निर्जरा तो अपने स्वरूप की स्थिरता में ही होती है

परन्तु टीका के काल में मेरा विकल्प तो है परन्तु उससे भिन्न मेरा घोलन है, उस घोलन से मेरी निर्जरा होती है।

मुमुक्षु - आत्मा की समीपता होगी?

उत्तर - आत्मा की समीपता और आत्मा में रहने से होती है; राग में रहने से होती है? अरे...! भगवान! दोनों मार्ग ही भिन्न है। एक आस्रवमार्ग, एक संवरमार्ग या निर्जरामार्ग। निर्जरामार्ग तो अपने स्व के आश्रय में निर्जरामार्ग शुरु होता है। समझ में आया?

कहते हैं, ‘गुणस्थानों की रीति प्रमाण बन्ध नियमित प्रकृतियों का होता है...’ थोड़ा बन्ध, वह बन्ध बन्धभाग में रहा। लम्बा विस्तार किया है, ठीका कुछ नहीं। नीचे तीसरा पैराग्राफ.... ‘आत्मा में स्थिरता होने का काम...’ इस ओर, ‘आत्मा में स्थिरता होने का काम चौथे गुणस्थान से शुरु हो जाता है...’ पीछे लिखा है - वहाँ स्वरूपाचरणचारित्र है। पण्डितजी! ऐसा है, प्रभु! सुन तो सही! आत्मा शुद्ध है, जहाँ ऐसी दृष्टि हुई तो उसमें आंशिक स्थिरता भी हुई; अतः मिथ्यात्व गया, अनन्तानुबन्धी गया। मिथ्यात्व जाने से सम्यक्त्व हुआ; अनन्तानुबन्धी (गया तो) स्वरूप में अंशरूप स्थिरता (हुई) फिर जो शब्द कहना हो, वो कहें, लो! स्वरूपाचरण नहीं, स्वरूपाचरण नहीं, चिल्लाहट मचाते हैं। अरे...! भगवान! सुन तो सही, भाई! है?

शरारती लड़का शोर मचाता है - ऐसा कहते हैं। झगडालू लड़का होता है न? झगडालू... यह तरबूज होता है न? तरबूज, क्या कहते हैं? उसका पिता तरबूज लाये न? तरबूज, क्या कहते हैं? लाल। फिर कोई लम्बी फाँक हो, कोई नीचे चौड़ी हो, नीचे चौड़ी हो तो इतनी छोटी हो, लम्बी हो तो ऐसी हो, उसके पिता को पहले से ही पता होता है कि यह झगडालू है; (इसलिए कहता है) पहले ही पसन्द कर ले। देख, यह दस (फाँक) पड़ी हैं, यह तीन

लड़कियाँ हैं और पाँच लड़के हैं और यह तेरी माँ और यह तेरा बाप। इस प्रकार दस फाँक हैं, देख! फिर तू कहेगा, अरे... बापू! उनको चौड़ी है परन्तु उन्हें चौड़ी नीचे है परन्तु ऊपर लम्बी नहीं है तेरे नीचे छोटी है परन्तु लम्बी है, दोनों समान हैं। ऊधमी तो ऐसे ऊधम किया ही करता है। इसी प्रकार धर्म के नाम पर कम, अधिक, विपरीत करके ऊधम किया ही करते हैं। बापू! यह तो भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग, भाई! उनकी दुकान के मुनीम भी अलग प्रकार के होते हैं। समझ में आया? तेली जैसों को महीने में दस रुपये का वेतन दे (उसे) अरबोंपति की दुकान में मुनीमरूप से बैठावे तो वह क्या करेगा? घानी सूझेगी, सब पैसा पिल देगा। बापू! सर्वज्ञ परमेश्वर प्रभु आत्मा है, भाई! तीन काल-तीन लोक के जाननेवाले परमात्मा, धर्म का मूल सर्वज्ञ परमेश्वर है, जिन्हें एक समय में अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें तीन काल हस्तामला की तरह देखा - ऐसे परमेश्वर के मार्ग में बहुत जवाबदारी से काम लेना चाहिए। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि भाई! यह स्वरूपाचरणचारित्र चौथे (गुणस्थान से) होता है। भाई! तुझसे ना नहीं हो सकती। जब तू राग में एकत्व था, और राग से पृथक् हुआ... एकत्व-विभक्त, पण्डितजी! आया न? पण्डितजी ने परसों कहा था न? 'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण' यह (समयसार की) पाँचवीं गाथा में कहा। 'तं एयत्तविहत्तं' वह कभी सुना नहीं। पर से पृथक्, भगवान राग से पृथक् हुआ और स्वभाव से एकत्व हुआ तो राग से पृथक् हुआ उसमें कोई स्थिरता होगी या नहीं? समझ में आया? न्याय से, वस्तु से, स्थिति से समझना पड़ता है न! ऐसा का ऐसा अर्थ करे (चले नहीं)। यह तो वीतरागमार्ग है। समझ में आया?

भगवान आत्मा अपना शुद्धस्वरूप जब दृष्टि में नहीं था और राग व पुण्य व विकल्प दृष्टि में था,

तब तो उसकी श्रद्धा भी मिथ्या थी, क्योंकि राग को ही, अंश को ही आत्मा मानता था। अथवा राग के पीछे वर्तमान क्षयोपशमज्ञान, दर्शन, वीर्य का अंश है, उस विकार, अंश को आत्मा मानता था। अंश को आत्मा मानता था या राग को आत्मा मानता था परन्तु त्रिकाल ज्ञायकभाव को आत्मा नहीं मानता था। भाई! त्रिकाल ज्ञायकभाव अनन्त गुण से भरपूर है, उसकी जहाँ अन्तर्दृष्टि हुई तो अंश को मानता था, तब तो रागादि का लक्ष्य होता था। जहाँ अंशी की दृष्टि हुई तो उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्आनन्द का अंश और स्वरूपाचरण का - स्थिरता का अंश साथ में होता है, होता और होता ही है। तेरी लाख चर्चा करना! समझ में आया? क्या करे? उनको बेचारों को हल्का रखना पड़ा है, हाँ! 'गाँधी' को मैंने कहा खोज करता हूँ, शास्त्र का आधार (देखता हूँ)। जिसमें दोनों को आपत्ति न आवे। शास्त्र आधार मिलता नहीं, परन्तु भगवान सुन तो सही, न्याय से सुन, प्रभु का न्यायमार्ग है।

यहाँ कहते हैं, देखो! चौथे गुणस्थान से आत्मा की स्थिरता शुरु होती है, फिर स्थिरता न हो सके तो राग से पृथक् हुआ किस प्रकार? सात तत्त्व में आस्रवतत्त्व और अजीव, दोनों से भिन्न होकर ज्ञायकतत्त्व की प्रतीति की तो प्रतीति हुई कहाँ से? तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शन - इसमें आस्रवतत्त्व आया, पुण्य-पाप (इसमें आ गये), अजीवतत्त्व आया तो उनकी श्रद्धा कब होती है? इस आत्मा में वह आस्रव और अजीव नहीं है - ऐसी प्रतीति करने से स्वरूप की स्थिरता हुई। ज्ञायक की श्रद्धा होने से संवर, निर्जरा की पर्याय उत्पन्न हुई, तब वह आस्रव बाकी रह गया, वह बन्ध का कारण है - ऐसा व्यवहार से जानता है। समझ में आया?

'वहाँ स्वरूपाचरणचारित्र है, जो अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से प्रगट हो जाता है...' ज्ञानचन्दजी! भाई! अनन्त

गुण में से चारित्रगुण का अंश न आया हो तो अनन्तानुबन्धी जाने पर क्या हुआ? क्योंकि अनन्तानुबन्धी चारित्रमोह की प्रकृति है, भाई! भले ही वह चाहे जिस शास्त्र में से निकाले कि वह तो दर्शनमोह की प्रकृति में जाती है; विपरीत-अभिनिवेश में आती है - ऐसा गोम्मटसार के दृष्टान्त देते हैं परन्तु भाई! यह तो मिथ्यात्व की बात बनाकर करने का कहा है परन्तु चारित्रमोह की प्रकृति को पच्चीस है, दर्शनमोह की तीन है, तो सम्यक् अनुभव में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी गये तो वह तो कषाय की प्रकृति है। कषाय जाने से क्या हुआ? अकषाय अंश हुआ या नहीं? अकषाय अंश हुआ उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र है। समझ में आया? इसमें वाद-विवाद का समय भी कहाँ है? यह तो वस्तुस्थिति ही ऐसी है। अनन्त काल में कठिनाई से ऐसा अवसर मिला... आहा...हा...! निगोदमें से निकलकर कितने पंचेन्द्रिय, उसमें मनुष्य, उसमें वीतराग की वाणी का सुनना, उसमें यह यथार्थ बात कान में पड़ना और उसकी रुचि होना, यह तो महादुर्लभ, दुर्लभ और दुर्लभ है। समझ में आया?

‘पाँचवें देशसंयम (गुणस्थान में) अप्रत्याख्यान कषाय का उदय नहीं होता इस कारण स्वरूपाचरण में अधिक स्थिरता होती है...’ लो! चौथे में भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध की प्रतीति हुई, उसके साथ आंशिक स्थिरता भी हुई और आगे बढ़कर जब पंचम गुणस्थान आया, वह गुणस्थान अन्तरदशा की बात है। वहाँ दूसरी अप्रत्याख्यानावरणीय.... समझ में आया? यहाँ स्वरूप में स्थिरता की वृद्धि हुई (तो उस ओर) अप्रत्याख्यानावरणीय का नाश हुआ तो वहाँ स्थिरता बढ़ गयी। यहाँ (चौथे गुणस्थान में) थोड़ी स्थिरता थी या सीधी पाँचवें से आयी? समझ में आया? स्थिरता का अंश, स्वसंवेदन का अंश, स्वरूपाचरण कणिका का अंश... कणिका ली है न? कणिका ली

है। ‘परमार्थवचनिका’ (में लिखा है कि) कणिका जागी, है न? अन्तर्दृष्टि के प्रमाण में सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग साधता है। सम्यक्मार्ग साधना वह व्यवहार है। सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण की कणिका जागी, वह मोक्षमार्ग सच्चा। बनारसीदास, परमार्थ वचनिका...। अन्त में कहेंगे यह यथा सुमति प्रमाण... समझ में आया? केवली वचनानुसार है। यथायोग्य सुमति प्रमाण... जो जीव यह सुनेगा, समझेगा, श्रद्धा करेगा, उसे भाग्यानुसार कल्याण होगा। समझ में आया? अज्ञानी होगा, वह इस स्थिति को सुनेगा अवश्य, समझेगा नहीं। बनारसीदास ने तो बहुत लिखा है। तीनों काल ऐसे जीव होते हैं। जहाँ उसे स्वयं को अन्दर में भरोसा और उस प्रकार का ख्याल न आवे तो उसे खटका करता है कि ऐसा नहीं होता, ऐसा होता है परन्तु उसे धीरे से, शान्ति से देखे तो पता पड़े न?

यहाँ कहा, देखो! क्या कहा? सम्यग्ज्ञान स्वसंवेदन और स्वरूपाचरण की कणिका, तीनों हो गये। सम्यग्दृष्टि हुई, स्वसंवेदन ज्ञान हुआ, चौथे में स्वरूपाचरण की कणिका कही है। पाँचवें में बढ़ गयी, छठे में बढ़ी, सातवें में स्थिरता बढ़ गयी। चन्दुभाई! देखो न! भाषा कैसी है! स्वरूपाचरण की कणिका जगी, कणिका जगी, स्थिरता का अंश चौथे में (जगा है) - ऐसा लिखा है, हाँ! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्दृष्टि द्वारा मोक्षपद को साधता है, बाह्य भाव को बाह्य निमित्ताधीन मानता है। रागादिक होते हैं, जानता है कि निमित्तरूप है मोक्षमार्ग। समझ में आया? और मोक्षमार्ग साधना, व्यवहार शुद्धद्रव्य क्रियारूप वह निश्चय। भगवान अक्रिय शुद्धबिम्ब को यहाँ निश्चय कहा है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की क्रिया जो पर्याय होती है, उसे भेदरूप पर्याय है, इसलिए व्यवहार कहा है। दशा लेनी है न? ध्रुवबिम्ब प्रभु पड़ा है, उसे निश्चय कहा, अक्रिय है, उसमें क्रिया नहीं है, परिणमन नहीं

है, उत्पाद-व्यय नहीं है और उसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय हुई, वह मोक्षमार्ग साधा, वह तो व्यवहार हुआ। पर्याय है न, इस अपेक्षा से व्यवहार, हाँ! वह राग व्यवहार (कहते हैं उसका) अभी काम नहीं है। समझ में आया? क्योंकि मोक्षमार्ग की पर्याय के आश्रय से मोक्ष नहीं होता; मोक्ष तो द्रव्य के आश्रय से होता है। मोक्षमार्ग की पर्याय का व्यय, मोक्ष का उत्पाद, वह भावमें से होता है। उस पर्याय का व्यय, अभाव में से भाव होता है? समझ में आया? ज्ञानचन्द्रजी! यह तो सीधी बात है, भगवान! इसमें कहीं कोई आगे-पीछे करे, वह वस्तु नहीं चलती। देखो! यह कणिका (लिखा है), हाँ! परमार्थवचनिका...। सम्यग्दृष्टि का विचार सुनो, उसमें है।

पाँचवें गुणस्थान में.... पाँचवाँ गुणस्थान, सर्वार्थसिद्धि के देव से भी बढ़ गया है। सर्वार्थसिद्धि के देव को किसी को चौदह पूर्व का ज्ञान (होता है)। यहाँ से ऐसा लेकर गया है न! इसे कुछ नहीं होता, थोड़ा (होता है)। विभाव हेय और स्वभाव आदरणीय - ऐसा अन्दर भान अनुभव के वेदन में हो गया। आगे बढ़कर स्थिर हुआ तो सर्वार्थसिद्धि के देव से भी शान्ति बढ़ गयी। आहा...हा...! है? जिसे पकड़ा, उसमें विशेष स्थिर हुआ, उसे अब क्या बाकी रहा? पाँचवाँ गुणस्थान.... आहा...हा...! श्रावकदशा..., कहते हैं कि जहाँ शान्ति की स्थिरता बढ़ गयी है और यह प्रतिमाएँ जो हैं, वे भी वास्तव में तो विकल्प है, वह नहीं; अन्दर स्थिरता के अंश शान्ति के बढ़ते हैं, उसे वास्तविक निश्चय प्रतिमा कहते हैं। कहो, समझ में आया?

‘निर्मलता भी होती है...’ ‘स्वरूपाचरण में अधिक स्थिरता होती है और निर्मलता भी होती है, पाँचवें गुणस्थान में ग्यारह श्रेणियाँ हैं।’ समझे न? ग्यारह प्रतिमा। चढ़ते-चढ़ते आगे बढ़ता है, लम्बी बात है। ‘प्रमत्त गुणस्थान

प्रत्याख्यान कषाय का उदय नहीं रहता...’ मुनि... मुनि...। स्वरूपाचरण में विशेषपने स्थिरता होती है। अप्रमत्त में संज्वलन कषाय का मन्द उदय है, तब अधिक निश्चलता होती है। (ऐसे) करते-करते बारहवें गुणस्थान में (पहुँचते हैं)। वीतरागता बारहवें में, वीतरागता तेरहवें में अन्तर्मुहूर्त में केवल (ज्ञान)।

‘इष्टोपदेश में कहा है - मोक्ष के प्रेमियों का कर्तव्य है कि आत्मा सम्बन्धी ही प्रश्न पूछे...’ है? ‘मोक्ष के प्रेमियों का...’ अपने व्याख्यान चल गये हैं। सब व्याख्यान उतर गये हैं। इष्टोपदेश (सब) व्याख्यान रिकार्ड हो गये हैं।

मुमुक्षु - इस समय आपने राजकोट में यही शब्द कहे थे कि आत्मा की ही बात पूछना।

उत्तर - आत्मा... आत्मा.... आत्मा... करणानुयोग सब होओ, अब छोड़ना, कितनी तो हमें ही नहीं आती। करणानुयोग में इस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियाँ बँधती हैं कितनी सत्ता में होती हैं, यह याद भी न हो, उसके साथ क्या सम्बन्ध है? भगवान आत्मा पूरा है, उसका पूछ न, उसका कह न, उसका उत्तर माँग न? भाई! आता है न उसमें, नहीं? बहुत बोल, ग्यारह बोल आते हैं। योगसार में ग्यारह बोल आते हैं। योगसार में आ गया है, अपने सब उतर गया है। बहुत समय से बहुत बातें आती हैं। आत्मधर्म में तो बहुत प्रकार आ गये हैं परन्तु.... आत्मधर्म को वे कहते हैं, ए.... एकान्त है। भगवान! उसे दृष्टि में नहीं समाता न, इसलिए ऐसा लगता है। भाई! उसे धीरे से देखना चाहिए। ऐसा का ऐसा पक्ष से और आग्रह से नहीं देखा जाता। समझ में आया? न्याय से देखना चाहिए न?

‘मोक्ष के प्रेमियों का कर्तव्य है कि वे आत्मा सम्बन्धी ही प्रश्न पूछें, उसका ही प्रेम करें...’ समझे? हमें कितने ही गुप्तरूप से पूछते हैं (शेष अंश पृष्ठ संख्या-१४ पर...)



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके वचनामृत-२६७ पर भाववाही
प्रवचन, दि. ७-६-१९८३, प्रवचन
क्रमांक-१२३ (विषय : मार्गदर्शन)

अलिंगग्रहण के २० वें बोलमें कहा है कि जो ध्रुवका स्पर्श नहीं करती ऐसी शुद्ध पर्याय ही आत्मा है, वहाँ वेदनकी अपेक्षा ऐसा कहा है, क्योंकि आनन्दका वेदन परिणतिमें है। त्रिकालीका वेदन नहीं होता, इसकारण ऐसा कहते हैं कि जो वेदनमें आया वह मैं हूँ। जहाँ जो आशय हो वहाँ वैसा ही समझना चाहिए। यहाँ सम्यग्दर्शनकी बात है। सम्यग्दर्शन का विषय जो त्रिकाली-ध्रुव सामान्य है, एक वही सर्व तत्त्वोंका सार है। यह वस्तु स्वयं ध्रुव है, उस पर दृष्टि जाने पर ही सम्यग्दर्शन होता है। २६७.

(३२:०० मिनटसे...)

२६७. वह भी नियमसार परमागम की ३८ वीं गाथा पर का ही बोल है। 'अलिंगग्रहण के २० वें बोलमें कहा है कि जो ध्रुवका स्पर्श नहीं करती ऐसी शुद्ध पर्याय ही आत्मा है, वहाँ वेदनकी अपेक्षा ऐसा कहा है, क्योंकि आनन्दका वेदन परिणतिमें है।' अब, अन्य शास्त्र में इससे विरुद्ध कथन आता है उसका यहाँ स्पष्टीकरण है, खुलासा है। प्रवचनसार परमागम है। यही आचार्य का है—कुन्दकुन्दाचार्य का है। उसमें १७२ नंबर की गाथा है। उस गाथा में अलिंगग्रहण शब्द का प्रयोग है। उस एक शब्द के २० अर्थ टीकाकार आचार्यने वहाँ किये हैं। उन २० अर्थ में २०वाँ अर्थ ऐसा किया है, ऐसा कहते हैं।

'अलिंगग्रहण के २० वें बोलमें कहा है कि जो ध्रुवका स्पर्श नहीं करती ऐसी शुद्ध

पर्याय ही आत्मा है,...' वहाँ मूल शब्दप्रयोग किया है—अर्थावबोध सामान्य। जो अर्थावबोध सामान्य है, अवबोध अर्थात् ज्ञान, अर्थ यानी भाव जो ज्ञान सामान्य भावस्वरूप है वह त्रिकाली शुद्ध आत्मा है, वह ध्रुव आत्मा है, वह कारणपरमात्मा है। उसे नहीं आलिंगीत ऐसी शुद्ध पर्याय वह आत्मा है। ऐसा वहाँ २० वें बोल के शब्द हैं। अर्थावबोध सामान्य, उसे नहीं आलिंगीत ऐसी शुद्ध पर्याय। क्योंकि अलिंगग्रहण है। नहीं आलिंगीत—उसे स्पर्श नहीं करती, उसे छूती नहीं, ऐसी शुद्ध पर्याय वह आत्मा है। वहाँ शुद्ध पर्याय को आत्मा कहा। यहाँ शुद्ध पर्याय को अनात्मा कहा, तो इस तरह परस्पर विरुद्ध कथन जो शास्त्रों में आते हैं उसका स्पष्टीकरण क्या है? उसका खुलासा इस बोल में है। गुरुदेव स्वयं ही प्रवचन करते-करते स्पष्टीकरण करते हैं। श्रोता को प्रश्न उत्पन्न हो या न हो। लेकिन एक ओर से आप ऐसा कहते हो कि शुद्ध पर्याय अनात्मा है, एक ओर ऐसा कहते हो कि ध्रुव को नहीं आलिंगीत ऐसी शुद्ध पर्याय वह आत्मा है।

हमें समझना क्या? वहाँ जो कुछ कहना चाहते हैं उस बात को बराबर खयाल में लेनी चाहिए।

कहते हैं कि 'शुद्ध पर्याय ही आत्मा है, वहाँ वेदनकी अपेक्षा ऐसा कहा है,...' वहाँ वेदन को मुख्य करके वह बात कही है। जैसे कोई मनुष्य बहुत धनवान हो, अरबों की संपत्ति हो। वह मनुष्य वह संपत्ति भोगते-भोगते आयुष्य पूर्ण करे, चल बसे तब लोग ऐसा कहते हैं कि भाई ये उसका कहाँ था? ये घरबार, चीज-वस्तु, गाड़ी, बंगला उसका कहाँ था? सामान्य लोग भी (ऐसा कहे कि) उसका नहीं था। उसका होता तो साथ ले जाता। ये सब यहाँ पड़ा रहा और भाईसाहब कहीं ओर चले गये। तो कहते हैं कि उसका कितना? कि उसने जितना भोगा उतना उसका। क्या कहते हैं? कि जितना उसने भोगा उतना उसका।

वैसे ही आत्मा में अनंत आनंद की संपत्ति है। उसमें से जितना भोगे उतना उसका ऐसा कहते हैं। कोई स्वयं की पूरी या अधूरी संपत्ति को भी, आधी संपत्ति को भी लौकिक में नहीं भोगता। पैसा कमाता है उससे आधा भी नहीं भोगता। बहुभाग तो अधिकतर संपत्ति यहीं रखकर जाता है। उसे एक प्रकार का मोह है कि ऐसा करना चाहिये। लेकिन उसका कोई मतलब नहीं है। जितना भोगे उतना ही मतलब का है।

शास्त्र में तो बहुत सुन्दर न्याय आता है उसके लिये कि भाई! तू तेरी लक्ष्मी को नहीं भोगेगा अथवा तू उसका यथास्थान में उपयोग नहीं करेगा दानादि और भोगादि में, तो वह कब कैसे कुपात्र के हाथ में चली जायेगी, तेरी वंशपरंपरा में सब पात्रतावाले होंगे ऐसा तो कुछ है नहीं, अतः भोग में उसका उपयोग होगा तो पाप बँधेगा और दान में उपयोग होगा तो पुण्य बँधेगा। अब तुझे ठीक लगे ऐसा कर। ऐसा कहकर उपदेश दिया जाता है। परन्तु कहने का मतलब इतना है कि जितना भोगा उतना उसका। इस प्रकार यहाँ वह न्याय है।

शुद्ध पर्याय वह आत्मा है ऐसा कहा वहाँ वेदन की अपेक्षा से कहा है। क्योंकि आनंद का वेदन परिणति में है। जो वर्तमान पर्याय है उसमें जितना आनंद भोगने में आता है उतना आत्मा है। वहाँ उसे आत्मा कहने में आता है। क्योंकि उतनी उसकी स्वयं की वस्तु उसे भोगने में आयी। बाकी का तो यूँ का यूँ जो रिझर्व रह गया, भले ही वह आश्रयस्थान है और यह आश्रयस्थान नहीं है, तो भी यहाँ वेदन होता है उतना ही कार्य हुआ है इसलिये उसे आत्मा कहने में आता है। यह भी एक कहने की शैली है। अन्यथा क्या होता है? ऐसा क्यों कहा? ऐसा एक तर्क होने योग्य है। जिसका आश्रय नहीं करवाना है, जो आनंदादि अवस्था का भी आश्रय नहीं करवाना है उसे आत्मा कहने का क्या प्रयोजन है? ऐसा प्रश्न यहाँ होने योग्य है।

तो कहते हैं, यहाँ इतना भी प्रयोजन है कि कोई, त्रिकाली.. त्रिकाली.. त्रिकाली... सो मैं, ऐसा किया करे परन्तु उसे यदि आनंद उत्पन्न ही न हो तो उसे तो आत्मा है ही नहीं। क्या कहना है? एक निश्चयाभास का प्रकार उत्पन्न होता है उसमें निश्चय आत्मस्वरूप की कल्पना उस जीवने की होती है कि मेरा आत्मा ऐसा है। त्रिकाल पर्याय रहित शुद्ध ध्रुव अपरिणामी, ये सब विशेषण उसने लगाये होते हैं। परन्तु उसकी कल्पना ही होती है, उसे स्वयं का स्वरूप ऐसा भासित नहीं होता है। और फिर वर्तमान अवस्था में आनन्द प्रगट हुए बिना, मैं त्रिकाली ऐसा.. ऐसा मैं.. ऐसा मैं... ऐसा मैं... ऐसा मैं.. यूँ ही उसको जो धून चलती है वह कल्पना में रटन चलता है, उसे कहते हैं कि वह आत्मा नहीं है। यहाँ तो आनंद उत्पन्न हो वही आत्मा है, ऐसा कहना है।

इसलिये यह लक्षण बाँधा है कि निश्चयाभास नहीं है उसका लक्षण क्या? कि निश्चयाभासी नहीं है और निश्चयाभासी है, दोनों एक ही प्रकार से आत्मा की बात करते हैं तो इन दोनों में, ये निश्चयाभासी है

और ये निश्चयाभासी नहीं है ऐसा कैसे निर्णय करें? कि जिसे आनंद उत्पन्न होता है वह निश्चयाभासी नहीं है। आत्मिक आनंद जिसे उत्पन्न होता है वह निश्चयाभासी नहीं है।

सोगानीजी का द्रव्यदृष्टिप्रकाश ग्रंथ प्रगट हुआ। तब यह बात गुरुदेवश्री पोइन्टआउट करके बताते थे मुख्य करके कि, देखो! यहाँ आनंद की बात की है। किसीने कहा होगा कि ये तो निश्चयाभासी है। उस चर्चा में वह बात आई है कि भले ही लोग निश्चयाभासी कहे, यहाँ तो आनंद आता है। यहाँ तो आनंद आता है, इसलिये यह दर्शाता है कि आभास नहीं है। आनंद आता है, पुरुषार्थ प्रवर्तता है, शांति बढ़ती है यह स्पष्ट करता है, परिणाम अंतर्मुख होते हैं यह स्पष्ट करता है कि इसमें निश्चयाभास नहीं है। निश्चय का आभास होवे उसमें परिणाम केवल बहिर्मुख रहते हैं और वह गलत तरीके से ऐसा मान बैठता है कि मैं बराबर ऐसा निश्चय आत्मा हूँ, ऐसा निश्चय आत्मा हूँ। वह भ्रम है, विशिष्ट भ्रम है।

अतः उस बात को भी यहाँ स्पष्ट करनी है। वहाँ १९ बोल तक सामान्य द्रव्य की बात की है। १९ बोल तक अकेले त्रिकाली आत्मा की बात की है, अलिंगग्रहण में। और २० वें बोल में पर्याय की बात की है कि द्रव्य सामान्य को, अर्थावबोध सामान्य को नहीं आलिंगीत ऐसी शुद्ध पर्याय वह आत्मा है। वह १९ बोल कहने के बाद उसका लक्षण बताया कि ये १९ सच्चे कब कहें? कि उसमें आनंद उत्पन्न हो तब। यदि उसमें आत्मा के आनंद का लक्षण नहीं आवे, स्वसंवेदन आनंद की छापवाला है। ये सब परमागम के अध्यात्म के वचन हैं कि जो स्वसंवेदन मोक्षमार्ग में प्रगट होता है, उसमें आत्मा के आनंद की छाप है।

मुनिदशा है, जिसमें बाहर से जंगलवासी कहलाते हैं, वनवासी मुनि कहलाते हैं और उनको आहार, पानी, रहने की कोई व्यवस्थित व्यवस्था

नहीं होनेपर भी उन्हें दुःख नहीं है और आनंद अधिक है, यह उनके मुनिपने का भावलिंग है। आनंद में, आत्मा की शांति फवारे में डूबे हुए हैं, स्नान करते हैं। जगत के जीव दुःख के पर्वत के नीचे दबे हुए हैं और आकुलता की होली में सुलगते हैं। जबकि वीतरागी मुनि 'एगंत सुही मुनि वीतरागी', जगत में कोई अकेला सुखी हो तो वह वीतरागी मुनि हैं, ऐसा लिया गया है। परन्तु उन्हें तो कोई व्यवस्था नहीं है न? उन्हें तो उनके लिये कोई अनुकूलता नहीं है न, साधन नहीं है न? वह अनुकूल साधन सुख का कारण नहीं है। जगत को यह प्रसिद्धरूप से घोषित करता है कि अनुकूल साधन सुख का कारण नहीं है। तो फिर वह जिसको हो उसे अधिक सुख गिनना चाहिये। परन्तु वह तो प्रत्यक्षरूप से देखने में नहीं आता है।

कहते हैं कि ऐसी शुद्ध पर्याय वह आत्मा है ऐसा कहा वहाँ वेदन की अपेक्षा से कहा है। वहाँ वेदन की बात बतानी है ऐसा गिनकर वह कहने में आया है। 'क्योंकि आनंद का वेदन परिणतिमें है।' जो कुछ आनंद का वेदन है वह वेदन तो पर्याय में होता है, वेदन द्रव्य में नहीं होता। अवेदकपना है। द्रव्य तो अवेदनकरूप है। वेदन है वह अवस्था का कार्य है, अवस्था का विषय है, अवस्था का धर्म है।

'त्रिकालीका वेदन नहीं होता।' है? स्पष्ट है? 'त्रिकालीका वेदन नहीं होता।' त्रिकाली तो शक्तिरूप है। वेदन तो व्यक्ति में होता है। जो शक्तिरूप है उसमें वेदन नहीं होता। अग्नि शक्तिरूप हो उसमें उष्णता नहीं आती। व्यक्तिरूप अग्नि में उष्णता आती है। ठीक! उष्णता अग्नि का धर्म है न? तो दियासलाई के ऊपर के हिस्से में शक्तिरूप अग्नि है उसमें उष्णता नहीं है। वह चाहे जितना ठण्डा हो। ये दियासलाई, ऐसे ही चकमक का पत्थर है, लो। उसमें अग्नि होती है या नहीं होती? अथवा दो पदार्थ के घिसने से अग्नि होती है। परन्तु वह शक्तिरूप अग्नि है तब तक

उसका कोई जोखिम नहीं है। जलना तो व्यक्तिरूप अग्नि में होता है। उष्णता तो व्यक्तिरूप अग्नि में है। ऐसे शक्तिरूप जो आत्मतत्त्व है उसमें वेदन नहीं है, वह त्रिकाली तत्त्व है। त्रिकाली में वेदन नहीं होता। **‘इसकारण ऐसा कहते हैं कि वेदनमें आया वह मैं हूँ।’**

ये जो २०वाँ बोल है उसमें यह बात ली है। तो कहते हैं कि जितनी शुद्धता और जितना आनंद, शांति का वेदन आया, अनंत गुण का वेदन है। धर्म की अवस्था में फिर चाहे वह प्रारंभिक-प्रथम अवस्था हो तो भी उसमें अनंत गुण का वेदन है। आत्मा का वेदन आत्मा के आश्रय से है तो उसमें अनंत गुण का जो परिणामन है, सम्यक्त्व होते ही आंशिक शुद्ध होते हैं और आनंद का वेदन आता है। उसमें आनंद, शांति इत्यादि गुण भी परिणामित होते होने से उसका भी प्रगट वेदन होता है। **‘इसकारण ऐसा कहते हैं कि जो वेदनमें आया वह मैं हूँ।’** लो, ये वेद्य-वेदक आया। आप पूछते थे न, दो-तीन दिन पहले कि वेद्य-वेदकभाव क्या है?

मुमुक्षु :- ... ऐसा कहते थे कि ज्ञानी वेद्यवेदक नहीं करते। इच्छा नहीं होती है और इन लोगों को भोगने की इच्छा नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- दो बात है। बाहर में अन्य पदार्थों को भोगने में उस पदार्थ का वेदन होता है, ऐसा कहने में आता है। तो वहाँ वेदक यानी वेदन करनेवाला। क यानी करनेवाला। वेदन करनेवाला वह आत्मा। और वेद्य यानी वेदन होनेयोग्य, भोगनेयोग्य अन्य विषय। समयसार की २१६ नंबर की गाथा में यह विषय आचार्यदेव ने लिया है कि जगत के जीव वेद्यवेदकभावरूप परिणामते हैं। यानी अन्य पदार्थ को भोगने के काल में उसका जो वेद्यवेदनकपना है उसका पृथक्करण किया जाये तो जब उसे वेदन करने का भाव है, इच्छा होती है तब वस्तु इच्छा के काल में मौजूद नहीं होती। मौजूद

नहीं होती तभी तो इच्छा होती है न? जब वह भोगनेयोग्य, वेदने योग्य पदार्थ का संयोग होता है तब उसके परिणाम में कोई अन्य पदार्थ की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इसलिये वेद्य-वेदक भाव से एक काल में उत्पन्न नहीं रहते होने से जिस पदार्थ की इच्छा हुई वह पदार्थ आनेपर उस पदार्थ की इच्छा नहीं रही। क्योंकि पदार्थ आ गया इसलिये इच्छा नहीं रही। तो वह इच्छा और भोग्य जो है, इन दोनों का एक समय में मिलना नहीं होता होने से, संसारी प्राणी को बाह्य पदार्थ में कभी तृप्ति नहीं होती। परिणाम में अतृप्तपना रहने का कारण वेद्य-वेदकभाव की अनअवस्था है, एकसाथ अवस्था नहीं है।

जबकि आत्मा में आत्मा का अनुभव होनेपर, आत्मा की शांति और आत्मा के आनंद को भोगने में इच्छापूर्वक भोगना नहीं होता। वहाँ तो वेदन करनेवाला और वेदनयोग्य स्वयं ही है। वेदन करनेवाली भी अवस्था है और वेदनयोग्य भी आत्मा में उत्पन्न हुई शांति है। अतः वेद्यवेदकभाव अभेद होने से वहाँ तृप्ति होती है, वहाँ शांति होती है। आत्मा के आनंद में और आत्मिक शांति में तृप्ति रहने का यह कारण है और अन्य पदार्थ में शांति एवं तृप्ति नहीं होने का यह कारण है। इसप्रकार से वहाँ समयसार में दोनों बात स्पष्ट की है।

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- जो अन्य पदार्थ है उस अन्य पदार्थ की गैरमौजूदगी में इच्छा होती है और जब वह पदार्थ आता है तब उसकी इच्छा कहाँ रही? क्योंकि वह तो आ गया। इसलिये इच्छा को वहाँ वेदकभाव कहा और आनेवाला पदार्थ जब आया तब वेद्यभाव हुआ, भोगने का भाव हुआ वह वेद्य हुआ। वह वेद्य और वेदकभाव क्रम से रहते हैं, अक्रम से एकसाथ नहीं रह सकते। क्योंकि अन्य पदार्थ के विषय में है। अतः वेद्यवेदकभाव एकसाथ नहीं मिलने से बाह्य पदार्थ में कभी तृप्ति नहीं होती। और स्वयं के ही

आत्मा में वेदन करनेवाला और वेदनयोग्य दोनों, वेदन करनेवाला और वेदनयोग्य, वेदन करनेवाला और वेदन में आता है, वह दोनों स्वयं ही है। आत्मभाव ही वेदन करता है और आत्मिक शांति का वेदन है। और इसमें इच्छा की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि स्वयं अभेद है। अतः इच्छा का विकल्प नहीं है इसमें। इसलिये वहाँ शांति और तृप्ति होती है। यह इसका कारण है। शांति-अशांति का वैज्ञानिकरूप से वहाँ पृथक्करण किया है।

जैसे कोई लॅबोरेटरी में पृथक्करण करता है न कि इसमें क्या है? इसका हिस्सा कितना? यह हिस्सा कितना? धातु का पृथक्करण करते हैं तो कौन-कौन सी धातु कितनी है? इसप्रकार यहाँ इसका पृथक्करण किया है कि यह विज्ञान है। और जगत के जीव को चाहे जितने भोगविलास के और अनुकूल साधन के निमित्त एवं संयोग हों, तो भी कोई भी जीव को तृप्ति नहीं होती इसका यह कारण है। वास्तविक कारण है। यह उसकी वास्तविकता है। और कोई भी साधन बिना जो आत्मा के आनंद में परिणामे हैं वे शांति में परिणामे हैं। उन्हें तृप्ति है उसका यह कारण है। दो बात स्वयं ने प्रसिद्ध की है। अतः ऐसा जानकर ज्ञानी परपदार्थ की इच्छा नहीं करते। अथवा ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को परपदार्थ की इच्छा नहीं होती। होती नहीं, उसे करते नहीं ऐसा कहने में आता है।

एक मनुष्य को मालूम हुआ कि इस गेहूँ के आटे का ढेर नहीं है परन्तु लकड़ी का भूसा है, फिर उसमें से लड्डु बनाने की इच्छा नहीं होती। क्योंकि मालूम पड़ गया कि इस में गुड़, शक्कर, और घी डालने से वह व्यर्थ हो जायेंगे। उसके लड्डु बनाकर खाया नहीं जायेगा। उसका ज्ञान ही उसकी इच्छा को तोड़ता है। उसी तरह ज्ञानी को मालूम हुआ कि परपदार्थ में वेद्यवेदकभाव की संभवितता एक काल में नहीं है, इसलिये उसमें अतृप्ति की उत्पत्ति होगी,

तृप्ति उत्पन्न नहीं होगी। इस तरह जिसे उसका विज्ञान मालूम हुआ उसे इच्छा टूट जाती है, उसे इच्छा उत्पन्न नहीं होती। इस तरह सहज ही इच्छा का उत्पन्न नहीं होना वह, परपदार्थ की ओर जाते हुए परिणाम, परविषय में अटकते परिणाम को ऑटोमेटिक टालने का, सहजरूप से टालने का वह ज्ञान उपाय हो गया। ऐसा ज्ञान है वह उसका उपाय हो गया, वह उसका मार्ग हो गया। अनेक पहलुओं से देखो तो वस्तु का विज्ञान ही ऐसा है कि पर ओर जाते हुए परिणाम को अटकाये और स्वरूप में परिणाम को स्थिर करे। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। उसका अनेक पहलुओं से ज्ञान करने से यही परिस्थिति उत्पन्न होती है और अन्य परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती।

यहाँ तो पुनः उससे आगे का विषय है कि 'त्रिकालीका वेदन नहीं होता।' जो शुद्ध आत्मा है उसका वेदन नहीं होता, वेदन तो पर्याय का होता है। इसलिये पर्याय वेदन में आई, मैं-पना पर्याय में अनुभवगोचर हुआ। पर्याय के आश्रय से नहीं, हाँ। पर्याय का आश्रय नहीं है यहाँ। यहाँ तो स्थान लेना है। क्योंकि आश्रय यानी लक्ष। लक्ष तो त्रिकाली पर है। ऐसा मैं। ऐसा मैं, ऐसा भाव पर्याय में अनुभवगोचर हुआ उसे वहाँ आत्मा कहने में आया है, वेदन की मुख्यता करने के लिये, वेदन की प्रसिद्धि दर्शाने के लिये। और ऐसे वेदन रहित कोई इस तरह शुष्कता से ऐसा न करे उस बात को भी वहाँ समझानी है।

'इसकारण ऐसा कहते हैं कि जो वेदनमें आया वह मैं हूँ। जहाँ जो आशय हो वहाँ ऐसा समझना चाहिए।' ऐसा कहते हैं। जहाँ जो अधिकार चलता हो और जो आशय हो, जो कहने का अभिप्राय हो वह बात वहाँ से समझनी चाहिए। वहाँ, दूसरी जगह जो बात कही है उसे यहाँ बीच में नहीं लानी चाहिए। 'यहाँ सम्यग्दर्शनकी बात है।' कहाँ? यहाँ जो नियमसार का अधिकार चलता है वहाँ

किसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट हो, ऐसा कहते हैं।
 'यहाँ सम्यग्दर्शनकी बात है। सम्यग्दर्शनका विषय जो त्रिकाली-ध्रुव सामान्य है, एक वही सर्व तत्त्वोंका सार है।' सर्व तत्त्व एकसारः। उसके बादवाला वह कलश है, टीकाकार का श्लोक है उसमें संस्कृत के इतने शब्द लिये हैं। जो सर्व तत्त्वों में एक साररूप है। कारणपरमात्मा आश्रय का स्थान होने से वह एक ही आश्रय करनेयोग्य होने से वह सर्व तत्त्वों में एक ही सारभूत है। जगत में भले ही चाहे जितने तत्त्व हों, तो भी उन सर्व तत्त्वों में सारभूत स्वयं का परमात्मपद है। इसके अलावा और कुछ सारभूत नहीं है।

'सम्यग्दर्शनका विषय जो त्रिकाली-ध्रुव सामान्य है, एक वही सर्व तत्त्वोंका सार है।' अथवा वह एक सर्व तत्त्वों में उत्कृष्ट है। 'यह वस्तु स्वयं ध्रुव है,...' स्वयं ही ध्रुव वस्तु है। 'उस पर दृष्टि जाने पर...' अर्थात् यह मैं हूँ, ऐसा लक्ष जाने पर 'सम्यग्दर्शन होता है।' सम्यग्दर्शन होता है तब सम्यग्ज्ञान होता है, तब स्वरूप स्थिरतारूप आचरणरूप सम्यक्चारित्र होता है, आंशिक होता है और तब उसे आत्मा की शांति और आत्मा का स्वसंवेदन का आनंद उत्पन्न होता है। वह अलिंगग्रहण के बोल का स्पष्टीकरण भी यहाँ लिया है।

(पूज्य गुरुदेवश्री प्रवचन...)

महाराज! हमें ध्यान किस प्रकार करना? वे जानते हैं कि महाराज ध्यान करते हैं परन्तु ऐसा कोई ध्यान नहीं कि ओम... ओम... किया करें। यह आत्मा वस्तु है, उसकी दृष्टि करके स्थिर होना, वह ध्यान है। अभी आत्मा के भान बिना ध्यान किसका? समझ में आया? उसका प्रश्न कर, उसे देख, उसे अनुभव कर। 'वह आत्मज्योति अज्ञानरहित है...' भगवान में अज्ञान की गन्ध नहीं है। वह तो चैतन्य का नूर, पूर, सूर्य है। चैतन्य के नूर का पूर है। तेज, नूर अर्थात् तेज। चैतन्य के तेज का पूर है, उसमें अन्धकार कैसा? सूर्य में अन्धकार होता है? यह जड़ रजकण हैं, यह तो बहुत रजकणों की पर्याय की विभाषिकदशा है। यह तो एकद्रव्य अखण्ड, एकद्रव्य अखण्ड है। वह (सूर्य) तो बहुत रजकण का पिण्ड है। एकद्रव्य अखण्ड का तत्त्व, अकेले चैतन्य का पूर है, उसका प्रश्न कर। वह अज्ञानरहित 'परमज्ञानमय है और सबसे (भगवान) महान है।' कहो समझ में आया?

पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रवचन अब You tube पर

परम उपकारी पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रकाशित पुस्तकों के प्रवचन गुजराती एवं हिन्दी भाषा के Subtitle साथ अब देखिये। You tube में Satshrut prabhavna channel पर जाकर यह प्रवचन सुन सकते हो। राज-हृदय, कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के ग्रन्थ पर हुए प्रवचन अभी चल रहे हैं। हर रविवार सुबह ११ बजे इन प्रवचनों का जीवंत प्रसारण होता है, जिसका सर्व मुमुक्षुओं को लाभ लेने की विनती। Channel को Subscribe करने से आगामी प्रसारित प्रवचन का Notification स्वयं ही प्राप्त हो जायेगा।

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी. १२-A



मुमुक्षु :- .. उपयोग में क्या ?

समाधान :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान दोनों एकसाथ होते हैं। श्रद्धा द्रव्य का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन होता है, स्वानुभूति होती है और ज्ञान भी द्रव्य का आश्रय लेता है। ज्ञान का उपयोग तो जब स्वानुभूति होती है तब ज्ञान का उपयोग तो स्व में है। जब बाहर आता है तब स्वरूप की भेदज्ञान की ज्ञान की परिणति रहती है। परिणति रहती है। उपयोग तो बाहर होता है वो शुभाशुभभावों में जाता है, गृहस्थ होवे तो उपयोग तो बाहर जाता है। जब बाहर आये तब तो उपयोग बाहर रहता है, परिणति भेदज्ञान की रहती है। भेदज्ञान की रहती है।

मुमुक्षु :- उपयोग तो उस काल में अंदर में रहता है।

समाधान :- स्वानुभूति के समय में तो भीतर में (रहता है)। स्वानुभूति में तो अंतर में-आत्मा में उपयोग रहता है।

मुमुक्षु :- उपयोग और दर्शन एकसाथ ही होता है, तो उस समय उपयोग दर्शन के साथ रहता है? दर्शन के साथ उपयोग होता है या ज्ञान के साथ होता है?

समाधान :- स्वानुभूति के समय दर्शन उपयोग होता है और ज्ञान उपयोग होता है, ऐसा कहते हैं?

मुमुक्षु :- नहीं, ऐसे नहीं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है तो उपयोग श्रद्धा के साथ या ज्ञान के साथ (रहता है)?

समाधान :- एक गुण पर उपयोग हो तो दूसरे गुण को नहीं जान सकता ऐसा नहीं होता। उपयोग तो सबको जानता है। उपयोग ज्ञान को जानता है, उपयोग दर्शन को जानता है, उपयोग दूसरे गुणों को भी जानता है।

मुमुक्षु :- सम्यग्दर्शन जब होता है तो ज्ञान के साथ होता है। तो उपयोग में जितना मान लो दर्शन में .. आनन्द स्वरूप का अवगाहन होता है, रहता है, सम्यग्दृष्टि को होता है और ज्ञान में जो न्यूनता होती है, तो उपयोग-ज्ञान उतना ही जान लेता है? जितना अरिहंत केवली का है उतना हमारा है?

समाधान :- क्या कहते हैं?

मुमुक्षु :- ज्ञान में अरिहंत परमात्मा को जितना ज्ञान में आता है, उतना ही उपयोग में सम्यग्दृष्टि को (आता है)?

समाधान :- दो हजार सागरोपम में तेरे आत्मा का कल्याण कर ले ऐसा कहते हैं। नहीं तो चला जायेगा। काल पूरा हो जाये तो चला जाये। ऐसे भव जीवने अनन्त किये हैं। अनन्त काल चला गया ऐसे। निगोद में अनन्त काल हुआ, त्रस हुआ, सागरोपम का काल-दो हजार सागरोपम का काल भी बीताया, फिर निगोद में गया, ऐसे अनन्त काल गया। अब तो मनुष्यपर्याय (प्राप्त) हुयी, ऐसा धर्म मिला, ऐसे गुरु मिले, आत्मा

का स्वरूप समझानेवाले गुरु मिले तो आत्मा का कल्याण कर ले। वही करना है, आत्मा का कल्याण होता है वह करना जरूरी है।

मुमुक्षु :- कौन-सी रीतिसे सम्यग्दर्शन इस भव में प्राप्त हो जाय ?

समाधान :- आत्मा की लगन लगनी चाहिये। आत्मा का स्वभाव पहिचानना चाहिये। शास्त्र का अभ्यास करे परन्तु भीतर में आत्मस्वभाव को पहिचानना चाहिये। शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है, विभाव का स्वभाव मेरा स्वभाव नहीं है। मेरे आत्मा का स्वभाव विभाव नहीं है, वह तो आकूलतारूप है, दुःखरूप है। ऐसे भेदज्ञान करे, भीतर में श्रद्धा करे। तत्त्व का निर्णय यथार्थ करे। पुरुषार्थ करना चाहिये, लगनी लगानी चाहिये। आत्मा के बिना कहीं चैन पड़े नहीं, ऐसी अंतरमेंसे लगनी होनी चाहिये।

मुमुक्षु :- विकल्प उठने लगते हैं।

समाधान :- विकल्प होवे तो भी आत्मा की लगनी लगानी चाहिये। बारंबार ऐसा विचार करना चाहिये, तत्त्व का निर्णय करना चाहिये।

मुमुक्षु :- माताजी! एक प्रश्न है कि रूढ़िगत पूजा की परंपरासे पूजा करे तो क्या वह धर्म में निमित्त होता है? और यदि नहीं होता तो कोई ऐसे विशेष प्रकार की पूजासे धर्म में निमित्त हो ऐसा कोई प्रकार है?

समाधान :- रूढ़िगत पूजासे तो धर्म में निमित्त यानी स्वभावधर्म में निमित्त उसप्रकारसे तो नहीं होता। वह तो मात्र शुभभावरूप मात्र रूढ़िगत है। आत्मा का हेतु नहीं है। रूढ़िगतरूपसे भगवान की पूजा की तो भला होगा, ऐसा करके शुभभावरूप करे। इसप्रकार रूढ़िगतरूपसे तो शुभभावरूप पुण्यबन्ध होता है। बाकी उसे आत्मा का ध्येय हो कि करना तो अंतर में है। तत्त्व का निर्णय करना है, अंतर स्वभाव पहिचानना है। परन्तु उस एकही में रह नहीं सकता इसलिये भगवान की पूजा करे, महिमा करे, भगवान की भक्ति करे, वह सब करे, परन्तु ध्येय अंतर में हो तो भगवान के दर्शनसे अच्छे विचार आये। भगवान का निमित्त बने, उपादान तैयार होने में। लेकिन आत्मा का ध्येय हो तो।

मुमुक्षु :- आत्मा के ध्येयपूर्वक यदि पूजादि करे तो वह सत्य धर्म में निमित्त होने का अवकाश है?

समाधान :- निमित्त होने का अवकाश है। तत्त्व का निर्णय करने के विचार साथमें हो तो। विचार, अंतर निर्णय करे, यदि ध्येय हो तो।

मुमुक्षु :- भगवान का स्वरूप-भगवान वीतराग है, भगवान सर्वज्ञ है, इसप्रकार जानकर भगवान की पूजा करे तो उसमें कोई फ़र्क पड़ता है?

समाधान :- हाँ, भगवान का स्वरूप विचारकर भगवान की महिमा उसप्रकारसे लाकर पूजा करता हो तो उसमें फ़र्क है। उसमें भगवान निमित्त बनते हैं।

मुमुक्षु :- रूढ़िगत पूजा में और इसमें फ़र्क है।

समाधान :- फ़र्क है। जिन प्रतिमा जिन सारखी। भगवान और भगवान की प्रतिमा में जो भेद नहीं देखता,.. 'अल्प भव स्थिति जाकी सो ही जिनप्रतिमा प्रमाणे जिन सारखी।' जिन भगवान में और जिन प्रतिमा में कोई भेद नहीं देखता। ऐसा उल्लास भाव उसे अंतरसे आता है। अहो..! भगवान वीतराग है। भगवान और प्रतिमा में कोई भेद नहीं देखता, ऐसी अंतरसे भावना, भक्ति आती है। तो उसकी भवस्थिति अल्प हो जाती है। क्योंकि उसे आत्मा के ध्येयपूर्वक, आत्मा के उल्लासपूर्वक ऐसी भक्ति आती है। भक्ति इसप्रकार निमित्त बनती है। लेकिन

उसके साथ तत्व का विचार आदि सब होना चाहिये। विचारपूर्वक होना चाहिये।

मुमुक्षु :- .. जीव दरिद्र रहे ऐसा बने तो इस जगत का वह ग्यारहवाँ आश्चर्य है। श्रीमद्जी को इसमें किस पर वज़न देना है? और किसप्रकार का वज़न देना है?

समाधान :- सत्पुरुष जैसा कल्पवृक्ष मिले और जीव क्या...?

मुमुक्षु :- दरिद्र रहे। ऐसा बने तो इस जगत का यह ग्यारहवाँ आश्चर्य है।

समाधान :- दरिद्री रहे। सत्पुरुष जैसा कल्पवृक्ष मिले और यदि तू दरिद्री रहे तो एक आश्चर्य है। ऐसा कल्पवृक्ष मिला और तू तैयार नहीं हुआ। श्रीमद् कहते हैं कि ऐसा कल्पवृक्ष मिला तो तू तैयारी कर। नहीं तो आश्चर्य है। सत्पुरुष की महिमा ऐसी है कि वह निमित्त ऐसा बलवान है कि यदि तेरी तैयारी हो तो तेरी सब दरिद्रता टूट जाये और तुझे आत्मा की प्राप्ति होगी। तुझे मुक्ति मार्ग प्राप्त हुए बिना रहे ही नहीं। तुझे ऐसा अद्भुत आत्मा प्रगट हुए बिना रहे ही नहीं। ऐसा बलवान निमित्त है, ऐसा कल्पवृक्ष मिला और यदि तू दरिद्री रहा तो एक आश्चर्य की बात है। इसलिये ऐसा कहना है कि तू दरिद्री मत रह, तू ऐसी तैयारी कर, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- तैयारी की जिम्मेदारी तो अपने पर है।

समाधान :- तैयारी की जिम्मेदारी खुद पर रहती है। सत्पुरुष कर नहीं देते।

मुमुक्षु :- हम सब ग्यारहवाँ आश्चर्य हैं।

समाधान :- स्वयं का आत्मा अन्दरसे कहे, अपना आधार स्वयं को आना चाहिये कि मैं पुरुषार्थ करनेवाला हूँ, मेरा आत्मा तैयार होनेवाला ही है, ऐसा आधार स्वयं को आता है या नहीं यह देखना है। नहीं तो भगवान के पास भी गया है, भगवान के समवसरण में गया, भगवान की दिव्यध्वनि मिली। वह तो सबसे बड़ा प्रबल निमित्त सर्वोत्कृष्ट है। तो भी वहाँ-से वापस आया, यह एक आश्चर्य है। क्योंकि स्वयं की तैयारी बिना (गया था)। उपादान तैयार हो तो निमित्त बलवान है। वैसे ही सत्पुरुष भी एक बलवान निमित्त है। इस काल में सत्पुरुष जैसा कल्पवृक्ष तुझे मिला और यदि तू दरिद्री रहा तो तू मूर्ख है, तूने पुरुषार्थ नहीं किया। तूने प्रमाद में काल व्यतीत किया।

मुमुक्षु :- इसमें क्षति स्वयं के उपादान की। किसप्रकार की वह तो खुद जान सके।

समाधान :- वह तो स्वयं जान सके। स्वयं का आधार अन्दरसे आना चाहिये कि ऐसे महापुरुष मिले और मेरी तैयारी होगी ही, मुझे मुक्ति प्राप्त होगी ही, ऐसा आधार (आये)। वर्तमान में अमुक प्रकारसे पुरुषार्थ चलता हो तो भी उसे आधार मिलता है। स्वयं के आत्मा पर आधार रखता है, उसकी खुद की पात्रता पर।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जुलाई-२०२२) का शुल्क स्व. खीमजीभाई गंगर, ह. लक्ष्मीबहिन गंगर, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

(परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी द्वारा लिखित आध्यात्मिक पत्र...)

३१३

बंबई, पौष सुदी ७, गुरु, १९४८

ज्ञानीके आत्माको देखते हैं और वैसे होते हैं।

आपकी स्थिति ध्यानमें है। आपकी इच्छा भी ध्यानमें है। आपने गुरुके अनुग्रहवाली जो बात लिखी है वह भी सच है। कर्मका उदय भोगना पड़ता है यह भी सच है। आप समय-समयपर अतिशय खेदको प्राप्त हो जाते हैं, यह भी जानते हैं। आपको वियोगका असह्य संताप रहता है यह भी जानते हैं। बहुत प्रकारसे सत्संगमें रहने योग्य हैं, ऐसा मानते हैं, तथापि अभी तो यों सहन करना योग्य माना है।

चाहे जैसे देशकालमें यथायोग्य रहना और यथायोग्य रहनेकी इच्छा ही किये जाना यह उपदेश है। आप अपने मनकी चिंता लिख भेजें तो भी हमें आपपर खेद नहीं होगा। ज्ञानी अन्यथा नहीं करते, ऐसा करना उन्हें नहीं सूझता, ऐसी स्थितिमें दूसरे उपायकी इच्छा भी न करें ऐसी विनती है।

कोई इस प्रकारका उदय है कि अपूर्व वीतरागताके होनेपर भी हम व्यापार संबंधी कुछ प्रवृत्ति कर सकते हैं, तथा खाने-पीने आदिकी अन्य प्रवृत्तियाँ भी बड़ी मुश्किलसे कर पाते हैं। मन कहीं भी विराम नहीं पाता, प्रायः यहाँ किसीके समागमकी वह इच्छा नहीं करता। कुछ लिखा नहीं जा सकता। अधिक परमार्थवाक्य कहनेकी इच्छा नहीं होती। किसीके द्वारा पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर जानते हुए भी लिख नहीं सकते। चित्तका भी अधिक संग नहीं है, और आत्मा आत्मभावमें रहता है।

समय-समयपर अनन्तगुणविशिष्ट आत्मभाव बढ़ता हो ऐसी दशा रहती है, जिसे प्रायः भाँपने नहीं दिया जाता, अथवा भाँप सकनेवालेका प्रसंग नहीं है।

आत्माके विषयमें सहज स्मरणसे प्राप्त हुआ ज्ञान श्री वर्धमानमें था ऐसा मालूम होता है। पूर्ण वीतराग जैसा बोध हमें सहज ही याद आ जाता है, इसलिये आपको और गोसलियाको लिखा था कि आप पदार्थको समझें। वैसे लिखनेमें दूसरा कोई हेतु न था।

३१५

बंबई, पौष सुदी ११, १९४८

हम कभी कोई वाक्य, पद या चरण लिख भेजे उसे आपने कहीं भी पढ़ा या सुना हो तो भी अपूर्ववत् मानें।

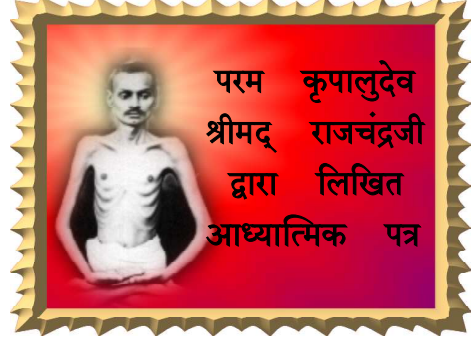
हम स्वयं तो अभी यथाशक्ति वैसे कुछ करनेकी इच्छावाली दशामें नहीं हैं।

स्वरूप सहजमें है। ज्ञानीके चरणोंकी सेवाके बिना अनन्त काल तक भी प्राप्त न हो ऐसा विकट भी है। आत्मसंयमको याद करते हैं। यथारूप वीतरागताकी पूर्णता चाहते हैं। बस इतना ही।

श्री बोधस्वरूपके यथायोग्य।

३०७

आणंद, मागसिर सुदी २, गुरु, १९४८
 (ऐसा जो) परमसत्य उसका हम ध्यान करते हैं।
 भगवानको सर्व समर्पण किये बिना इस कालमें जीवका
 देहाभिमान मिटना सम्भव नहीं है। इसलिये हम सनातन धर्मरूप
 परम सत्यका निरंतर ध्यान करते हैं। जो सत्यका ध्यान करता
 है वह सत्य हो जाता है।



३०८

बंबई, मागसिर सुदी १४, मंगल, १९४८
 ॐ सत्

श्री सहज समाधि,
 यहाँ समाधि है। स्मृति रहती है, तथापि निरुपायता है। असंगवृत्ति होनेसे अणुमात्र उपाधि सहन हो सके
 ऐसी दशा नहीं है, तो भी सहन करते हैं। सत्संगी 'पर्वत' के नामसे जिनका नाम है उन्हें यथायोग्य।
 आप दोनों विचार करके वस्तुको पुनः पुनः समझें। मनसे किये हुए निश्चयको साक्षात् निश्चय न मानियेगा।
 ज्ञानीसे हुए निश्चयको जानकर प्रवृत्ति करनेमें कल्याण है। फिर जैसा भावी।
 सुधाके विषयमें हमें सन्देह नहीं है, आप उसका स्वरूप समझें, और तभी फल है।

प्रणाम पहुँचे।

३०९

बंबई, मागसिर वदी ३०, गुरु, १९४८

“अनुक्रमे संयम स्पर्शतो जी, पाम्यो क्षायकभाव रे।
 संयम श्रेणी फूलडे जी, पूजुं पद निष्पाव रे।।”

(आत्माकी अभेदचितनारूप) संयमके एकके बाद एक क्रमका अनुभव करके क्षायिक भाव (जड़
 परिणतिका त्याग)को प्राप्त हुए सिद्धार्थके पुत्रके निर्मल चरणकमलकी संयमश्रेणिरूप फूलोंसे पूजा करता हूँ।
 उपर्युक्त वचन अतिशय गंभीर है।

लि. यथार्थ बोधस्वरूपका यथार्थ।

(पत्र का शेष अंश पृष्ठ-१८ पर...)